कितने प्रासंगिक थे हमारे परम्परागत जल संचयन के तरीके

सोबन सिंह रावत, प्रदीप कुमार एवं पी.जी. जोस
रा.ज.सं., क्षेत्रीय केंद्र जम्मू

जल पृथ्वी पर जीवन का आधार होने के साथ–साथ मानव के सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक विकास का प्रमुख स्रोत रहा है। विश्व की प्राचीनतम सम्पन्न मानव सभ्यतायें जैसे मेसोपोटामिया, मोहन–जोदड़ो, प्राचीन मिश्र, और यूनान इत्यादि प्रमुख प्राकृतिक जल संसाधनों के इर्द–गिर्द ही विकसित हुई हैं। विश्व के दो–तिहाई से भी अधिक भाग पर जल होने के बावजूद सामयिक और स्थानीय असमान वितरण के कारण मानव जाति को अपने उपभोग के लिए आवश्यक जल की हमेशा कमी रही है। हमारे पूर्वजों ने जल की महत्ता को समझते हुए इसके संरक्षण एवं वितरण के लिए क्षेत्र की भौगोलिक दशा के अनुरूप कुछ तकनीकें विकसित की थीं। ये तकनीकें केवल जल संचयन ही नहीं वरन बाढ़ नियंत्रण, सिंचाई, मत्स्य पालन, नमी संरक्षण, जल शोधन आदि में भी कारगर थीं। हालांकि समय के साथ समाजिक एकता की ये बेजोड़ जल संचयन एवं प्रबन्धन तकनीकें उचित रखरखाव की कमी एवं गलत नीतियों के कारण धीरे–धीरे विलुप्त होती जा रही हैं। प्रस्तुत लेख में भारतवर्ष के विभिन्न भागों में प्रचलित इन परम्परागत जल संचयन एवं प्रबन्धन तकनीकों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

नौला

यह सीढ़ीनुमा पत्थरों की ऐसी एक से दो मीटर गहरे तालाब रूपी संरचना है जिसमें जल जमीन के भीतर से रिसकर जमा होता है। इन सीढ़ीनुमा पत्थरों की चिनाई के लिए विशेष राजमिस्त्री होते थे ताकि चिनाई इस प्रकार से की जाये की पानी का रिसाव ना रुके। यह तीन ओर से दीवार से बन्द होता है तथा ऊपर छत डाल दी जाती है ताकि वर्षा से अपवाह जल में बहकर गंदगी/गाद नौले के जल को प्रदूषित न करे। इस प्रकार की संरचनायें उत्तराखंड के कुमाऊं अंचल में देखने को मिलती हैं। अल्मोड़ा का इक–हतिया नौला एवं चम्पावत का बालेश्वर नौला तो अपनी वास्तु–महिमा के लिए प्रसिद्ध है। समय के साथ इन नौलों के प्रबन्धन व रख–रखाव की सामाजिक पद्धतियां समाप्त होती गयीं। जिसके फलस्वरूप कई नौले गाद से भर कर विलुप्त हो गये।

खाल अथवा चाल

उत्तराखंड के पर्वतीय क्षेत्रों में वर्षा जल को संचित कर उसे भूमि में अवशोषित करने की एक पुरानी परम्परा है। चाल सामान्यतः जंगल में पहाड़ी के ऊपरी भागों में बनाई जाती है। यह ऐसे स्थानों में बनाई जाती है जहॉ भूमि में जोड़ या दरार हों। वर्षा जल इन दरारों से धीरे–धीरे रिसकर पहाड़ी के निचले हिस्से की भूमि में नमी बनाता है। समय–समय पर निकटवर्ती गाँव के लोगों द्वारा इन चालों का पुनरूद्धार भी किया जाता था। इन चालों में संचित वर्षा जल जंगली जानवरों के पीने के काम भी आता है। इस प्रकार मानव जाति का जंगली जानवरों के प्रति प्रेम भाव का यह जीता जागता उदाहरण भी है।

धारे/मंगरे

पर्वतीय क्षेत्रों में प्रायः ऐसे स्थान जहाँ पर भू–जल रेखा जमीन की सतह को काटती है वहाँ पर भू– जल जमीन से बाहर निकलने लगता है। स्थानीय लोग इस स्थान पर लकड़ी का पत्तनाला बनाकर अथवा पाईप डालकर इस स्रोत के जल का उपयोग करते हैं। ये धारे पर्वतीय क्षेत्र के वासियों की जीवन रेखा हैं। इन धारों की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इनका जल गर्मियों में ठंडा तथा सर्दियों में गर्म रहता है। उत्तराखंड के पर्वतीय भागों में धारे

की ऊंचाई एवं प्रकृति के आधार पर तीन प्रकार के धारे देखने को मिलते हैं। अगर धारे से आसानी से खड़े होकर पानी पिया जा सके तो उसे सिरपतिया धारा और अगर झुककर पानी पीना पड़े तो उसे मुरपतिया धारा कहते हैं। कुछ धारे तो केवल मौसमी होते हैं उन्हें पतविधिया धारा कहते हैं।

कूल/गूल

ये एक प्रकार की पानी की नहरें हैं जो कि जल स्रोत से जल लेकर किसानों के खेत तक पहुँचती हैं। हिमाचल प्रदेश की स्पीति घाटी में ग्लेशियर से गॉव तक जल पहुॅचाने के लिए कई कूलें बनाई गई हैं। ये कूलें कच्ची तथा पक्की दोनों प्रकार की होती हैं। जहाँ पर सतह कीचड़ युक्त होती है वहाँ पर पानी के रिसाव को रोकने के लिए पत्थरों की लाइनिंग की जाती है। जम्मू–कश्मीर तथा उत्तराखंड में भी कूलों के द्वारा सिंचाई की जाती है। प्रायः इन कूलों/गूलों के अंतिम छोर पर पनचक्की/घराट का निर्माण किया जाता था। गूलों में सिंचाई के बाद अवशेष जल एक ऊंचाई से गिरकर इन घराटों को चलाकर पुनः उसी गधेरे/नदी में मिल जाता है। इस प्रकार किसान गूल के माध्यम से सिंचाई के साथ–साथ गेहूँ, मादिरा आदि की पिसाई भी कर लेता है। आजकल इन घराटों से लघु स्तर पर बिजली पैदा करने का काम भी किया जा रहा है।

खत्री

ये एक प्रकार की जल संचयन संरचनायें हैं जो कि विशेष कारीगरों द्वारा पर्वतीय चट्टानों को लगभग 4 मीटर लम्बा, 3 मीटर चौड़ा तथा 1.5 मीटर गहरा काटकर बनायी जाती हैं। इनको बनाने के लिए प्रशिक्षित कारीगर की जरूरत पड़ती है। इस प्रकार की जल संचयन संरचनायें हिमाचल प्रदेश के हमीरपुर, काँगड़ा एवं मण्डी जिलों में देखने को मिलती हैं। साधारणतया दो प्रकार की खत्रियाँ होती हैं। एक तो जानवरों के पानी तथा कपड़े धोने के लिए प्रयुक्त की जाती हैं। इस प्रकार की खत्री में जल को पाईपों के द्वारा एकत्र किया जाता है जबकि दूसरे प्रकार की खत्री जिसमें चट्टानों के द्वारा रिसने वाले जल को एकत्रित कर मानव द्वारा पीने में प्रयुक्त किया जाता है। खत्रियां सामुदायिक भी हो सकती हैं और किसी व्यक्ति विशेष की भी। हिमाचल प्रदेश सरकार द्वारा भी खत्रियों का निर्माण कराया गया है। जिनके रखरखाव का काम पंचायतें करती हैं।

जातो

उत्तर पूर्वी भारत में सिंचाई एवं पशुओं की जल आवश्यकता हेतु जल संचय करने का एक पुराना तरीका जो कि आज भी नागालैण्ड में जीवंत है। नागालैण्ड में अच्छी वर्षा होने के बावजूद वहाँ के गाँवों में पीने के पानी की समस्या है। यहाँ के ग्रामीण लोगों द्वारा अपने प्रत्येक खेत के बीच में एक छोटा सा तालाब बनाया हुआ है। वर्षा जल पर्वत के जंगलों पर गिरकर, ढालों में होते हुए खेतों में बने इन तालाबों में एकत्रित होता है। इस जल को पशुओं के पीने के अलावा घाटी में स्थित क्यारियों में धान की सिंचाई के लिए भी प्रयोग किया जाता है।

चेओ–ओझिही

नागालैण्ड के किवीजेमा क्षेत्र में सिंचाई की यह पद्धति बहुत प्रचलित है। क्षेत्र में बहने वाली नदी भेजी के जल को नहर में मोड़ दिया गया है। ये नहरें आठ से दस किलोमीटर तक लम्बी हैं। बॉस के पाईपों से नहरों का जल खेतों तक पहुॅचाया जाता है। चेओ–ओझिही में चेओ का मतलब उस आदमी से है जो इन लम्बी नहरों तथा इसकी शाखाओं के रख रखाव के लिए जिम्मेदार रहता है तथा ओझिही का मतलब जल से है।

इरी

यह तमिलनाडु राज्य में ब्रिटिश काल के पूर्व से सिंचाई करने की एक प्रचलित पद्धति है। तमिलनाडु में आज भी एक तिहाई भाग पर इस पद्धति द्वारा ही सिंचाई की जाती है। सिंचाई के साथ–साथ इरी बाढ़ नियन्त्रण, मृदा संरक्षण, वर्षा जल संरक्षण तथा भूमिगत जल अवशोषण में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इरी के बिना तमिलनाडु में धान की खेती सम्भव नहीं है। ऐतिहासिक आंकड़ों के अनुसार प्रत्येक गाँव के कृषि उत्पादन से प्राप्त धन के 5 प्रतिशत भाग से इरी का रख रखाव किया जाता था। परन्तु अंग्रेजों द्वारा अधिक भू–राजस्व प्राप्ति के लिए भूमि को पट्टे पर देने वाली नीति ने समाज की इस पारंपरिक उपयोगी सभ्यता को विखण्डित कर दिया। जिसके फलस्वरूप इरी के रख रखाव की पुरानी व्यवस्था को समय के साथ व्यवस्थित नहीं किया जा सका और जल संचय तथा सिंचाई की यह विशेष तकनीक समय के साथ विलुप्त हो गई।

बाँस बूँद–बूँद सिंचाई

मेघालय राज्य में काली मिर्च में सिंचाई का यह एक प्रचलित तरीका है। यह तरीका यहाँ के खासी तथा जनतिया पर्वतीय भागों के किसानों द्वारा पिछले दो सौ सालों से उपयोग में लाया जा रहा है। इसमें बाँस के विभिन्न आकार के पाईपों की मदद से प्राकृतिक स्रोतों के जल को किसान अपने खेतों में पौधों के जड़ क्षेत्र में पहुँचाता है। इसमें बाँस की बाहरी परत को लम्बाई में एक तिहाई मोटाई तक छीलकर एक लोकल कुल्हाड़ी (दाओ) के द्वारा चिकना कर लिया जाता है। इस प्रकार की सिंचाई पद्धति के सभी भाग बाँस के द्वारा ही निर्मित होते हैं। इस पद्धति में सिंचाई जल को चार से पाँच स्थानों पर विभाजित किया जाता है। इस प्रकार यह आधुनिक बूँद–बूँद सिंचाई का ही एक सस्ता एवं देशी तरीका है।

अपटानी

सिंचाई के साथ–साथ मछली पालन का यह अद्भुत तरीका अरूणाचल प्रदेश के सुबानसिरी जिले के निचले भागों में रहने वाली अपटानी जनजाति के लोगों में प्रचलित है। इस पहाड़ी स्थान पर छोटे–छोटे सीढ़ीदार खेत हैं जो कि एक दूसरे से मिट्टी की लगभग आधा मीटर ऊँची दीवार से अलग–अलग होते हैं। इस मिट्टी की दीवार को बाँस के डंडों से मजबूती प्रदान की जाती है। ये सीढ़ीदार खेत एक दूसरे से इस प्रकार जुड़े रहते हैं कि ऊपर वाले खेत का जल निकास नीचे वाले खेत के लिए जल प्रवेश का काम करता है। इस तरह से प्रत्येक खेत के जल स्तर को नियन्त्रित किया जाता है। जंगल में बहने वाले प्राकृतिक स्रोतों पर चैक डैम बनाकर इनके जल को इन खेतों की तरफ मोड़ दिया जाता है।

कृत्रिम ग्लेशियर

लद्दाख क्षेत्र में वर्षा बहुत कम होने के कारण यहाँ के लोग ग्लेशियर से पिघल कर आने वाले जल पर अपनी जल आवश्यकताओं के लिए निर्भर रहते हैं। लेकिन जलवायु परिवर्तन के कारण ये ग्लेशियर निरंतर सुकड़ते जा रहे हैं। यहाँ के ग्रामीण लोग ग्लेशियर से आने वाली जल धाराओं के जल को मोड़कर गाँव के ऊपर छायादार स्थानों में मिट्टी और चट्टानों के तटबंध बनाकर इसमें संचित करते हैं। धीरे–धीरे यह जल जम जाता है और ग्लेशियर की शक्ल ले लेता है। गर्मी में ये कृत्रिम ग्लेशियर पिघलना शुरू होते हैं जोकि नीचे बसे गाँव की जल आवश्यकता की पूर्ति करते हैं।

टाँका

यह जमीन के अन्दर बनाये गये एक प्रकार के छोटे टैंक हैं जो कि राजस्थान में पुराने समय से लेकर आज तक पीने के पानी के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। सामान्यतया ये वृत्ताकार होते हैं तथा इनके अन्दर चूने की लाइनिंग की जाती है। इसका निर्माण घर के पास ही किया जाता है ताकि वर्षा जल संचय कर पीने के लिए प्रयुक्त किया जा सके। यदि किसी वर्ष कम वर्षा के कारण टाँका पूरा नहीं भरता है तो नजदीक स्थित जल स्रोत से पानी लाकर इसमें भर दिया जाता है। राजस्थान में कहीं–कहीं पर तो ये इतने प्रचलित हैं कि पाईप जल के विकल्प के रूप में काम कर रहे हैं। टाँके में टाईल लगाकर पानी को ठण्डा भी रखा जा सकता है। इस व्यवस्था को जीवंत रखने के लिए राजस्थान सरकार ने प्रत्येक घर में इनका होना कानूनन आवश्यक कर दिया है। जिससे सदियों पुरानी यह प्रथा आज भी राजस्थान में पीने के पानी का सफलतम विकल्प है।

खादिन

खादिन का निर्माण सर्वप्रथम जैसमलेर के पालीताल ब्राहमणों ने 15वीं सदी में कराया था। इस प्रकार की जल संचय संरचनायें ईराक में ईसा से 4500 पूर्व में पाई जाने वाली सिंचाई पद्धति से काफी समानता रखती है। खादिन इस सिद्धान्त पर आधारित है कि खेत में ही जल संचय कर मिट्टी में अच्छी नमी बनाई जाये ताकि अच्छी उपज पैदा की जा सके। इस प्रकार की संरचना में पहाड़ के निचले हिस्से में ढाल के लम्बवत् एक 50–200 मीटर लम्बी मिट्टी तथा पत्थर की मेड़ बनाई जाती है। अधिक पानी के सुरक्षित निकास के लिए जलद्धार का भी प्रावधान रखा जाता है।

वावदी/ब्योली

ये एक प्रकार के परम्परागत सीढ़ीदार कुयें हैं जिन्हें गुजरात में वावदी और राजस्थान में ब्योली के नाम से जाना जाता है। विभिन्न स्थानों पर बनी वावदी का अलग–अलग उपयोग होता था। गाँव के अन्दर या गाँव की सीमा पर निर्मित वावदी का उपयोग अपनी पानी की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता था तथा ठण्डे स्थानों पर होने पर सार्वजनिक बैठकों के लिए किया जाता था। जबकि गाँव के बाहर स्थित वावदी का प्रयोग राहगीरों/व्यापारियों द्वारा आराम स्थल के रूप में प्रयुक्त किया जाता था। अधिकांश वावदियाँ सामरिक तथा व्यापारिक मार्गो पर ही बनाई जाती थीं। इस प्रकार इनके निर्माण के पीछे एक रणनीतिक सोच भी थी। इनका प्रयोग सिंचाई के लिए भी किया जाता था।

अहार–पाईन

दक्षिण बिहार में बाढ़ के पानी को संचित करने का यह पारम्परिक तरीका है। यहाँ की मिट्टी बलुई होने के कारण पानी को संचित नहीं कर पाती है। जिस कारण भूमिगत जल स्तर भी काफी नीचे है। इसके साथ–साथ यहाँ पर मानसून में नदियों में बाढ़ आती है। जिसका पानी तेजी से या तो आगे बढ़ जाता है या बालू में नीचे रिस जाता है जिसके कारण यहाँ सिंचाई की बड़ी समस्या है। इन सभी कारणों से यहाँ के लोगों के पास इस बाढ़ के पानी को संचित करना ही एक विकल्प शेष रहता है। दक्षिण बिहार की भूमि में दक्षिण से उत्तर की तरफ साधारण ढाल है। अतः जल प्रवहण क्षेत्र में तीन तरफ से मेंड बना दी जाती है तथा चौथी तरफ से मिट्टी का ढाल स्वतः ही मेंड़ का काम करता है। इस प्रकार की संरचना को अहार कहा जाता है। इन अहारों में खरीफ की खेती सफलतापूर्वक करने के बाद आवश्यकता से अधिक जल का निकास कर रबी की खेती की जाती है। इन अहारों में नदी से पानी लाने

के लिए लम्बी नहरों, जिनकी लम्बाई 10 किमी0 तक हो सकती है का प्रयोग किया जाता है। इन लम्बी नहरों को पाईन कहा जाता है। अंग्रेजो के शासन काल में इस परम्परागत अहार–पाईन सिंचाई पद्धति पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। जिसके कारण यह पारम्परिक सिंचाई पद्धति धीरे–धीरे विलुप्त हो गयी। आज बिहार मे बाढ आने के प्रमुख कारणो में से एक कारण इन अहार–पाईनों का विलुप्त होना भी माना जा रहा है।

बंगाल की बाढ़ जल नहरें

बंगाल की बाढ़ जल नहरें एक विशिष्ट सिंचाई पद्धति का उदाहरण हैं। आज से लगभग 200 साल पहले एक ब्रिटिश सिंचाई विशेषज्ञ सर विलियम विलकोक ने पश्चिमी बंगाल में बाढ़ की स्थिति को समझते हुए कुछ नहरों का निर्माण कराया। इस प्रकार की नहरें चौड़ी तथा कम गहरी होती थीं जो कि बाढ़ के दौरान नदियों के सामान्य जल स्तर से अधिक पानी को सिंचाई के लिए ले जाती थीं। सिंचाई के लिए नहर की दीवारों को काट दिया जाता था और बाढ़ समाप्त होने पर इसको बन्द कर दिया जाता था। बाढ के इस पानी में चिकनी मिट्टी की अधिकता होने के कारण यह अतिरिक्त जल खेतों में लम्बे समय तक बना रहता है।

भण्डारा

यह एक प्रकार के रोक बाँध या डाईवर्जन वीयर हैं जिसमें नदी के जल स्तर को उठा कर इसको जल धाराओं में बहाया जाता है। इस प्रकार की परम्परागत जल संरचना महाराष्ट्र राज्य में पायी जाती है। ये संरचनायें गाँव के लोगों या किसी गैर सरकारी संगठन द्वारा बनाई जाती थीं। सिंचाई की यह परम्परागत तकनीक आज लगभग मृतप्राय हो गयी है।

फाद

इस प्रकार की सिंचाई पद्धति सामुदायिक प्रबन्धन का एक अच्छा उदाहरण है। सम्भवतः यह तरीका उत्तर–पश्चिम महाराष्ट्र में 300–400 वर्ष पूर्व प्रचलन में आया होगा। महाराष्ट्र के तापी वेसिन, पन्जारा मोसम, अरामिन ढुले और नासिक जिले में यह सिंचाई तन्त्र प्रचलित था। यह सिंचाई तन्त्र एक भण्डारे से प्रारम्भ होता है। भण्डारे एक प्रकार के रोक बांध या डाईवर्जन वीयर हैं जो कि नदी के जल को कृत्रिम जलधाराओं में बहाने के लिए बनाये जाते हैं। भण्डारे से कई कल्वास (नहरें) निकलती हैं जो कि पानी को खेतों तक पहुँचाती हैं। इन कल्वास की लम्बाई 2–12 किलोमीटर तथा जल प्रवाह क्षमता लगभग 450 ली0/से0 तक होती हैं। कल्वास से फाद के विभिन्न हिस्सों में जल वितरण के लिए चारी बनी होती है तथा अन्त में सारंग के द्वारा प्रत्येक खेत में जल पहुँचता है। आवश्यकता से अधिक जल के निकास के लिए कल्वास तथा चारी के साथ सन्डम भी बनाये जाते हैं। इस प्रकार जल को कृषि क्षेत्र तक पहुँचाया जाता है। फाद का आकार 10 हेक्टेअर से लेकर 200 हेक्टेअर तक हो सकता है। प्रत्येक साल ग्रामीण मिलकर तय करते हैं कि कौन से फाद में कृषि कार्य किया जाये और किसको खाली छोड़ा जाये। एक फाद में केवल एक प्रकार की फसल उगाई जाती है। सामान्यतः एक या दो फाद में गन्ना तथा दूसरे में मौसमी फसलें उगायी जाती हैं। इस प्रकार फसल चक्र अपनाकर सिंचाई के साथ भूमि की उर्वरा शक्ति को बनाये रखा जाता है। इसके साथ–साथ जल भराव और लवणता के खतरे को भी कम किया जाता है।

जिंग

ये लदाख में प्रचलित जल संचयन संरचनायें हैं। इनमें ग्लेशियरों से पिघलकर आने वाली बर्फ के पानी को एकत्र किया जाता है। ग्लेशियरों की बर्फ दिनभर जिंग में जमा हो

जाती है। शाम होते–होते इनमें काफी मात्रा में पानी जमा हो जाता है जिसे अगले दिन प्रयोग किया जाता है। जिंग के जल वितरण के लिए चुरपुन उत्तरदायी होता है।

पर

पश्चिमी राजस्थान में पार जल संरक्षण का एक बहुप्रचलित तरीका है। यह एक जलागम क्षेत्र का निकास स्थान है जहाँ पर पाँच से दस कुवियों का निर्माण ईंट तथा पत्थरों की चिनाई करके किया जाता है। एक पार में कुवियों की संख्या पार के क्षेत्रफल पर निर्भर करती है। पार पद्धति द्वारा संचित जल को पताली पानी के नाम से जाना जाता है।

तालाब / बाँधी

ये एक प्रकार के कुण्ड हैं जो प्राकृतिक तथा मानव निर्मित दोनों प्रकार के हो सकते हैं। बुन्देलखण्ड के टीकमगढ़ में प्राकृतिक कुण्ड तथा उदयपुर में मानव निर्मित झीलें इन सबका उदाहरण हैं। कुण्ड के क्षेत्रफल के आधार पर इनको अलग–अलग नाम से जाना जाता है। यदि कुण्ड का क्षेत्रफल लगभग 5 बीघे से छोटा हो तो इसे तलाई, मध्यम आकार की झील को सागर या सामन्द कहते हैं। इनके जल का उपयोग सिंचाई तथा पीने के काम में लाया जाता है। मानसून से पूर्व पानी इन तालाबों में सूख जाता है तो उस समय इनमें धान की रोपाई की जाती है।

केरे

कन्नड़ भाषा में टैंक को कैरे कहा जाता है। कैरे में कई टैंक एक क्रम में एक दूसरे से कुछ किलोमीटर की दूरी पर बने होते हैं। इन टैंकों में पानी किसी जल धारा पर रोक बाँध बनाकर लाया जाता था। ऊपर वाले टैंक में पानी अधिक होने पर इसको नीचे वाले टैंक में पहुँचाया जाता है। इस प्रकार पानी को बर्बाद होने से भी रोका जाता है।

विरदास

गुजरात के कच्छ का रण में वर्षा के पानी को संचित करने का एक घरेलू तरीका है। यहाँ की जमीन बड़ी उतार चढ़ाव वाली है। मलधरिस नाम के एक भ्रमणकारी ने मानसून के समय में सतही अपवाह के प्रवाह की दिशा को समझकर इन उतार वाले स्थानों पर कम गहरे कुओं के समान संरचनायें बनवाई जिसको विरदास कहा जाता है। मलधरिस की इस जल संचयन तकनीक की खासियत यह है कि इनमें पीने योग्य स्वच्छ पानी को खारे पानी से अलग किया जाता है। वर्षा जल मिट्टी द्वारा छनकर कम घनत्व होने के कारण भूमिगत खारे पानी के ऊपर जमा हो जाता है। जैसे–जैसे स्वच्छ जल काम में लाया जाता है वैसे–वैसे खारा पानी ऊपर आकर विरदास की तली में जमा होता जाता है।

सुरंगम

सुरंगम शब्द कन्नड भाषा में सुरंग के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इसको सुरंगम, थोरपु, माला विभिन्न नामों से केरल के कसरगौड जिले के अलग–अलग भागों में जाना जाता है। यहाँ पर बहने वाली नदियों का जल प्रवाह मानसून के समय बहुत अधिक तथा शेष समय काफी कम रहता है। जिसके कारण यहाँ के स्थानीय निवासी सतही जल के बजाय भूमिगत जल पर निर्भर रहते हैं। भूमिगत जल संचय करने के लिए एक विशेष संरचना बनाई जाती है जिसको सुरंगम कहते हैं। यह एक लम्बे क्षैतिज कुएं हैं जो कि 300 मीटर तक लम्बे, 0.5 से 0.75 मीटर चौड़े एवं 1.8 से 2.0 मीटर तक गहरे होते हैं। यह लम्बे कुएं कठोर लेटराईट मिट्टी के खोदे जाते हैं। खुदाई तब तक जारी रहती है जब तक कि अच्छी मात्रा में पानी न मिल जाये। साधारणतया मुख्य सुरंगम के अन्दर कई सारे छोटे सुरंगम खोदे जाते हैं। बहुत लम्बे सुरंगम में वायुमण्डलीय दाब को बनाये रखने के लिए ऊर्ध्वाधर हवा के धुरे भी लगाये जाते हैं।